राहुल सांकृत्यायन के उपन्यासों में इतिहास-दृष्टि

— सत्यदेव त्रिपाठी
हिन्दी विभाग,
गोवा विश्वविद्यालय
६ सितम्बर, १९९३

राहुलजी के उपन्यासों में इतिहास-दृष्टि की चर्चा इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं हो जाती कि उनके प्रायः सभी उपन्यास इतिहास पर आधारित हैं। इस चर्चा का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने इतिहास को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। इससे इतिहास के प्रति एक दृष्टि बनी है।

इसी का खुलासा करना इस अध्ययन का अभिप्रेत है।

इसका पहला संकेतसूत्र वहाँ मिलता है, जहाँ हम पाते हैं कि राहुलजी का पहला उपन्यास 'जीने के लिए' इतिहास पर नहीं, समकालीन जीवन पर आधारित है। शायद उपन्यास के लिए तब वे इतिहास को माध्यम नहीं बनाना चाहते थे, क्योंकि इतिहास-लेखन स्वयं उनके कृतित्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अतः इतिहास के लिए इतिहास और उपन्यास के लिए इतिहासेतर विषय ही तय किया हो। परंतु इतिहास-लेखक होते हुए भी और इतिहास से हटकर एक उपन्यास लिखने के बाद पुनः उपन्यासों के लिए इतिहास में प्रविष्ट होना अनायास ही नहीं हो गया होगा। यह सोद्देश्य हुआ है। इसे यह कहकर टाल देना कि इतिहास में उनकी अच्छी गति थी, अतः इतिहासाधारित उपन्यास लिखने में उन्हें सुविधा थी, सुभीता था; उनकी रचनाकार-मानसिकता को समझने की दिशा में सरलीकरण का रास्ता अख्त्यार करना हो जायेगा। सुविधा और सुभीता तो उन्हें होता उन सभी कालों का इतिहास लिख देने में, जिन पर उन्होंने उपन्यास लिखे—मसलन, गुप्तकाल (जययौधेय) या बौद्धकाल (सिंह सेनापति) आदि पर! और दूसरी तरफ 'जीने के लिए' देखकर यह भी कहा जा सकता है कि समकालीन जीवन पर उपन्यास लिखना भी उनके लिए असुविधाजनक नहीं था क्योंकि उसमें तत्कालीन समाज की कुरीतियों-पाखण्डों-अत्याचारों के खिलाफ प्रबल स्वर सुने जा सकते हैं और विद्रूपों पर व्यंग्य के तीखे प्रहार अनुभव किये जा सकते हैं, जो स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों की पहचान बनकर उभरे हैं।

फिर भी इतिहास और उपन्यास को जोड़ने का प्रयत्न करते हुए देखकर ही उनकी इतिहास दृष्टि की उस सोद्देश्यता पर नजर पड़ती है, जो कोरे इतिहास में आ नहीं सकती थी; क्योंकि इतिहास झूठा पड जाता और अनैतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से उसे व्यक्त करना 'यूटोपिया' के घेरे में पहुँच जाता। लेकिन इतिहास का कमोबेश इसीलिए प्रयोग तो हर एतिहासिक उपन्यास में होता है। फिर राहुलजी के उपन्यासों में इस खासियत की इतनी दीर्घ चर्चा क्यों? तो वह इसलिए कि इतिहास का प्रयोग राहुलजी ने किया ही ऐसा है, जो किसी भी पंक्ति में समाता नहीं। जहाँ और सबने उपन्यासों में ऐतिहासिक रंग-रोगन से इतिहास का चित्र उकेरा है, वहीं सहुलजी ने इतिहास की मिट्टी में उपन्यास की मूर्तियाँ गढी हैं। इस रूप में आप यह भी नहीं कह सकते कि राहुल ने उपन्यास-मूर्ति के लिए इतिहास की मिट्टी का इस्तेमाल किया है, क्योंकि इतिहास की

माटी ही उपन्यास रूप में तब्दील हो गयी है। प्रयोग की यह गहनता ही उन्हें सबसे अलगाती है।

परंतु इतिहास दृष्टि की सोद्देश्यता पर आने के पहले यह जान लेना भी जहरी है कि सोद्देश्यता क्यों? और इसके लिए हमें राहुलजी की साहित्यविषयक दृष्टि को जानना होगा, जहाँ उनकी इस इतिहास-दृष्टि का दूसरा संकेत सूत्र मिलता है। उनका स्पष्ट मत है, 'साहित्यकार भविष्य के निर्माता से अलग हो नहीं सकता। आखिर सच्चा साहित्यकार करता क्या है? पीढ़ियों की उपार्जित निधियों को हमारे पास पहुँचाकर, हमें उसका उत्तराधिकारी बनाकर उन निधियों की पूंजी, उनके तजुर्बे से सबल हो। आगे बढ़ने के लिए हमारे पैरों में शक्ति, हमारी आँखों में विशाल दृष्टि प्रदान करता है।... भविष्य के निर्माण में साक्षात् या अपने उत्तराधिकारियों द्वारा हाथ बढ़ाता है–' (हंस, अंक ४-५, १९४४)। और इसी के समानांतर राहुलजी का एक और कथन– 'साहित्य सिर्फ कल्पना जगत् की चीज नहीं है, वह एक दुर्धर्ष शक्ति है। हाँ, वह कल्पनाजगत् की चीज मात्र भी रह सकता है, यदि वह सिर्फ शून्य आकाश में घूमता रहे। लेकिन जैसे ही उसे ठोस भूमि का आधार मिल जाता है, वैसे ही वह एक प्रचण्डतम भौतिक शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है।'– (हंस, अंक ४-५-१९४४)।

इन दोनों वक्तव्यों में हमारी उक्त पृष्ठभूमि का निचोड़ समाहित है। राहुलजी साहित्य से भविष्य निर्माण के पक्षधर थे। यही उनकी सोद्देश्यता है, जिसे उपन्यासों के माध्यम से आगे देखेंगे। लेकिन साहित्य को कोरी कल्पना से बचाने के लिए ही इतिहास को 'चुनना उसे ठोस भूमि का आधार देने' व 'पीढ़ियों के उपार्जित निधियों को हमारे पास पहुँचाने' की विश्वसनीयता के लिए ही है। लेकिन एक बात और गौरतलब है कि इतिहास से उपन्यास ही राहुलजी के यहाँ विश्वसनीय नहीं होते, वरन् औपन्यासिक प्रयोग की कुशलता से इतिहास भी विश्वसनीय हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो बौद्धकाल के परिप्रेक्ष्य में 'दिव्या' लिखते हुए रुद्रधीर की रात्रि-पार्टी में जिस एक नृत्य और पान के लिए यशपाल जी की जितनी आलोचना-प्रत्यालोचना हुई; राहुलजी की प्रायः कहीं नहीं हुई, जबकि उसी काल के 'सिंह-सेनापति' एवं और भी परिष्कृत गुप्तकाल के 'जययौधेय' में उन्होंने एकाधिक प्रसंगों में वैसी ही 'पान पार्टी' खूब आयोजित की। इतना ही नहीं, प्रयोग का कौशल ऐसा कि तकनीक के रूप में प्रयुक्त औपन्यासिक कला के चकमे में लोग काल्पनिक संयोजन को भी इतिहास समझ बैठे और उन ईंटों को देखने पटना म्यूजियम में पहुँच गये, जिनके अनुवाद रूप में 'सिंहसेनापति' की प्रस्तुति का उल्लेख राहुलजी ने भूमिका में कर दिया है। ('विस्मृत यात्री' की भूमिका के साक्ष्य पर)।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि जो इतिहास में नहीं हो सकता था, वह उपन्यास द्वारा राहुलजी ने संपन्न किया और जो सिर्फ उपन्यास में उतना सशक्त न होता, उसके लिए इतिहास का सहयोग कर दिया। याने दोनो को एक दूसरे का पूरक बना दिया– एक दूसरे अभावों को सहारते हुए। और इस प्रकार भविष्य–निर्माण का साहित्य धर्म निभाया। अब उसी भविष्य–निर्माण को तलाशना है। राहुलजीका वर्तमान मूर्त रूप से १८९३ से १९६३ का रहा और उनके प्रायः सभी उपन्यास १९५० के बाद ही आये, याने आजादी–प्राप्ति के बाद। तो क्या उनका लक्ष्य आजाद भारत के भविष्य–निर्माण का था? उन्होंने अपने उपन्यासों का विषय अक्सर प्राचीन भारत के इतिहास से चुना है। यही करके प्रसादजी अपने नाटकों में राष्ट्रीयता की चेतना जगाते रहे। यदि राहुलजी के उपन्यास भी तिसरे–चौथे दशक में आते तो हम उनकी इतिहासदृष्टि को उसी रूप में विश्लेषित करते। उस हालत में सेनापति सिंह एवं यौधेय जय के प्रयत्न हमें सटीक आधार भी देते। किंतु उपन्यासों में यह उनका लक्ष्य नहीं दिखता। सिंह एवं जय के प्रयत्न अपने देश को आजाद करने के लिए नहीं है, वरन् देश की आजादी को अक्षुण्ण करने के लिए हैं तथा एक सच्चे लोकतंत्र को कायम रखने के लिए हैं। असल में इतिहासदृष्टि का केन्द्रीय तत्त्व लोकराज्य प्रणाली की स्थापना ही है, जो राहुलजी के प्रायः सभी प्रमुख उपन्यासों की मूलभूमि है– प्राणतत्त्व। और इस रूप में आजाद भारत के भविष्य-निर्माण की दृष्टि काफी युक्तिसंगत ठहरती है। लेकिन महापंडित की इस विशाल दृष्टि को सिर्फ एक देश, चाहे भले वह उनका अपना देश हो, तक सीमित कर देना कदापि उचित

नहीं। भावुकतावश ऐसा कह दें भले, पर जिस कालक्रम के आधार पर ऐसी निष्पत्ति बनती है, उसमें राहुलजी की चिंतनयात्रा को जोडकर देखें, तो इसके समानांतर एक दूसरी विवेचन-सरणि भी पुष्ट होती है। गणराज्यों की व्यवस्था पर केन्द्रित उनकी जो दृष्टि इन उपन्यासों में इतिहास के माध्यम से प्रकट हुई है, उसका निर्माण उनके जीवनकाल में धीरे-धीरे होता रहा और ऐसा लगता है कि परवर्ती काल में आकर ही वह सुनिश्चित हुआ-पका और पचा एवं तभी उपन्यासों में व्यक्त हुआ। यह संयोग है और बडा सार्थक संयोग, कि तब तक हमारा देश भी आजाद होकर लोकतंत्र की राहों पर चलना तय कर चुका था, जिससे राहुलजी की दृष्टि के साथ 'सोने में सुहागा' की कहावत चरितार्थ हो गयी। राहुलजी की इस दृष्टि के निर्माण में विश्व के इतिहास-दर्शन और यात्राओं के अध्ययन एवं अनुभव के साथ सोवियत संघ की व्यवस्था को प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रगतिशील चिंतनधारा के प्रति उनकी कट्टर आस्था एवं रुझान आदि का पूरा-पूरा योगदान ध्यातव्य है। उल्लेख्य है कि उपन्यास-लेखन के पडाव तक आते-आते वे कई बार सोवियत संघ की यात्रा कर चुके थे। यही सब कारण हैं कि तीसरे-चौथे दशक में उन्होंने ये उपन्यास नहीं लिखे।

गणराज्यों की संपूर्ण समता पर आधारित व्यवस्था की दृष्टि के लिए इतिहास के उन कालखंडों की तरफ जाना ही था, जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था के प्रमाण मिलते हैं। 'जययौधेय' एवं 'सिंहसेनापति' इस चुनाव के अन्यतम मानक हैं और इन उपन्यासों में चुनाव का यह पक्ष 'वेल बिगन इज हाफडन' के बदले 'चुनाव सही हो गया, तो मैदान मार लिया' का साखी है। लेकिन उपन्यासों से गुजरने वह राहुलजी के इतिहास-ज्ञान को देखने के बाद दोटूक रुप से ऐसा कहना भी मन में असमंजस पैदा करता है। ऐसा भी लगता है कि इतिहास के उन कालखंडों की सुव्यवस्था और मनुष्यमात्र की समान इयत्ता के आकर्षण ने ही उपन्यासों की इस दृष्टि का निर्माण किया होगा। असल में उपन्यास और इतिहास की तरह, दृष्टि और इतिहासदृश्य के बीच भी 'दू टे ट्रैफिक' ही ज्यादा मौजूं लगता है। दोनो ने एक दूसरे के चुनाव में बराबर की भूमिका निभायी है।

इस प्रकार 'इतिहास दृष्टि से उद्भूत गणराज्यप्रणाली' अथवा 'गणराज्य-व्यवस्था से प्रेरित उपन्यासों में इतिहासप्रयोग' की गवेषणा के दौरान हम पाते हैं कि राहुल की इतिहासदृष्टि का भी एक इतिहास है जो उनके उपन्यासों में उभरता है। मानव सभ्यता के विकास का क्रमवार वर्णन तो 'वोल्गा से गंगा' की कहानियों में हुआ ही है, पर गणराज्यों की इस अपनी वैकल्पिक वैचारिकता का बीज भी ऋग्वेदकालीन इतिहास पर आधारित उपन्यास 'दिवोदास' की ग्रामव्यवस्था में देखे जा सकते हैं। पुरुओं एवं कुरुओं के उस जनार्णव को चाहे ग्राम कहें, चाहे कबीला, पर वहाँ भी वही समता वाली व्यवस्था ही उनकी जीवनशैली थी। ध्यान से देखें तो 'दिवोदास' के समाप्तिकाल के कुछ सौ वर्षों बाद की 'सिंह सेनापति' की गणराज्य की परिकल्पना उसी ग्रामव्यवस्था का विकसित, पर खूब परिमार्जित रूप है। लेकिन इस मानवोपम व्यवस्था के प्रबल प्रतिरोध के बीज भी ऋग्वेदकाल में ही शुरू हो चुके थे, जो 'वैशाली' को नष्ट करने के लिए मगधराज बिंबिसार और राजकुमार अजातशत्रु के रूप में प्रखर हो चुके हैं। किंतु बौद्धकाल के इस चरण तक गण-व्यवस्था ही सबल रहती है। विरोधियों को झुकना पडता है। लेकिन इसका तीसरा चरण 'जय यौधेय' है, जहाँ भौतिक लोभ और अधिकार लिप्सा की तुच्छ मानवीय दुर्बलता दुर्धर्ष रुप में हावी हो चुकी है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समक्ष जय के यौधेयवंश के गणराज्य को उच्छिन्न कर दिया जाता शायद इसके बाद इतिहास में कहीं गणराज्य के साक्ष्य न हों, अतः राहुलजी की इतिहास दृष्टि का यह इतिहास यहीं रुकता है, परंतु उनके जीवनकाल में सोवियत संघ एवं भारत में भी इसी व्यवस्था का नाम चल रहा था। आज जब सोवियत संघ की संघीय प्रणाली चकनाचूर हो चुकी है, भारत में उसका विद्रूप ही विसट रहा है, यदि राहुलजी होते तो इस दृश्य के साथ अपनी इतिहास दृष्टि का कैसा रचनात्मक मेल बिठाते, यह तो नहीं कहा जा सकता; परंतु इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि मनुष्य की बढती

लोकैषणा को उन्होंने तब भी दिखा दिया था। 'सिंह सेनापति' का कपिल उस देवभूमि को छोड़कर भाग आता है, जहाँ प्रकृति के सहचर बने मनुष्य–मनुष्य में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का व्यावहारिक रूप जीया जा रहा था। उसे डर था, 'बाहरी जगत् के अधिक संपर्क होने से देवभूमि का देव-धर्म (सामाजिक व्यवस्था) अपरिशुद्ध हो जायेगा। मुझे इसका कोई उपाय नहीं सूझा' (पृष्ठ ४९)। फिर भी तब तक्षशिला और वैशाली के रूप में दो बड़े गणराज्य तो थे। गुप्तकाल में तो वह पूरा ही तहस-नहस हो गया। जो यौधेय शकों को खदेड़ सके, अपने भांजे के हाथों विनष्ट हुए तो क्या राहुलजी की सृजनात्मक। इतिहास-दृष्टि जान गयी थी कि लोकराज्यों को बाहर की उपेक्षा अंदर के अपनों से ही ज्यादा खतरा है। आखिर सोवियत युनियन में यही हुआ और भारत भी इसी खतरे को रोज झेल रहा है।

परंतु राहुलजी के अपराजेय चिंतन मार्ग में इस निराशा के लिए ज्यादा जगह नहीं थी। इतिहास के यथार्थ को निभाते हुए उन्होंने गणराज्यों का खात्मा दिखाया, क्योंकि इस बावत वे अपनी स्वस्थ मान्यता से बाबस्ता थे कि ऐतिहासिक उपन्यास अपने काल के देशकाल–पात्र की परिधि से बाहर नहीं जा सकते ('विस्मृत यात्री' की भूमिका के आधार पर); लेकिन यौधेयों की वीरता के तेजोमय आख्यान से उन्होंने अपना पक्ष, अपनी मान्यता पूरी तरह से स्पष्ट कर दी है। यौधेय हारते हैं, मरते हैं, पर पराधीनता और गणराज्येतर प्रणाली को स्वीकार नहीं करते। इतना ही नहीं अपनी मातृभूमि और अपने विश्वासों के समक्ष राहुल का जय उस बौद्धधर्म को भी छोड़ देता है, जो स्वयं राहुलजी का स्वीकृत धर्म था। सिंह और जय के माध्यम से उन्होंने अपनी साफ दृष्टि का खुलासा कर दिया है कि धर्म आदि का पालन तभी होना चाहिए, जब अपना देश सुरक्षित हो अपनी स्वतंत्र जीवनचर्या निरापद हो– जैसा सिंह करता है। ऐसा न होने पर तो जय की तरह चीवरवस्त्र को यमुना की नीलधारा में बहाना ही पड़ेगा। उनके सभी प्रमुख पात्र जहाँ कहीं भी लोकशासनप्रणाली पाते हैं, वहीं दुनिया बसाते हैं। सिंह तो इस संदर्भ में सरल मार्ग का ही राही बना रहा। जहाँ भी गया लोकतंत्र ही था, पर जय का जीवन वैविध्य से पूर्ण है। असमानता व स्वार्थोद्भूत इरादों के तहत वय यौवन भट्टारिका के सभी आकर्षक प्रलोभनों को ठुकरा देता है, पर अनायास ही पल्ली में श्यामा के साथ गृहस्थी बसा लेता है। लेखक की दृष्टि एकदम द्वैधमुक्त है। इन्हें सुविधापरस्त जीवन नहीं, श्रम पर आधारित एवं भाव और अभाव में सबकी बराबर की भागीदार समाजव्यवस्था चाहिए। अग्रोदका में वसुनंदा के साथ भी जय का घर इसी कारण बसता है। सिंहसेनापति में इस गणतंत्र एवं राजतंत्र की तुलना खूब हुई है– 'गणों का जीवन अधिक सुंदर, अधिक स्वच्छंद, अधिक मानवोचित है। राजतंत्र का जीवन निरी दासता का जीवन है। हम (सिंह) और हमारे नागरिक कभी जीतेजी इस जीवन से उस जीवन को बदल नहीं सकते।' (पृष्ठ १२०)। वैशाली के मार्गमें रोहिणी को राजतंत्र की अजनबीयत के माध्यम से उसका काफी मजाक बनाया गया है। सीधे-सीधे यहाँ तक कह दिया गया है कि 'राजतंत्र नर–नारियों का बंदीगृह है। वहाँ राजा के सामने किसी मनुष्य का कोई मूल्य नहीं' (पृष्ठ ६४) ऐसे में वैशाली का लिच्छवी गण ही ऐसा देश है, जहाँ आर्य स्वतंत्र मानव की भाँति बिना राजा के अपना सम्मिलित शासन– गणशासन– चलाते हैं। मैंने कोसल में अपने को अजनबी समझा, कुरु में भी विदेशी समझा; किंतु तक्षशिला में आकर बहुत जल्द समझ में आने लगा कि अपनी वैशाली में आ गया हूँ। (पृष्ठ ५३)। गण तंत्रियों की सबसे श्लाघ्य खूबी यह है कि 'न वे स्वयं परतंत्र होना चाहते, न दूसरों को करना चाहते'– (पृष्ठ ११९– सिंह सेनापति)। यह शायद नेहरू-कालीन भारत पर ही टिप्पणी है।

राहुलजी ने इस गणशासन पद्धति की दृष्टि को तीन संदर्भों में विशेष रूप से विवेचित किया है– १) मानव की स्वतंत्रता, जो दासप्रथा के खास मुद्दे को लेकर उठायी गयी है। २) नारी–स्वातंत्र्य या नारी–पुरुष की समता की बात एवं ३) नारी–पुरुष संबंधों को लेकर विवाह–प्रेम आदि के विषय में। जाहिर है कि इन तीनो को ही उन्होंने ऐतिहासिक संदर्भों में विश्लेषित करते हुए अपनी बात कही है। तीनो ही समस्याएँ राजतंत्र की हैं और गणतंत्र में इनको वाजिब हैसियत दी गयी है। तीनो ही मुद्दे आज भी बरकरार है। दासप्रथा की वैसी खुली

स्थिति नहीं है, पर उत्तरभारत में जन्मे राहुलने बचपन से ही बंधुआ मजदूरों को देखा था और मानवसभ्यता के विकास में विजित जाति के दास बनने या आर्थिक विपन्नता में बिकने का इतिहास भी देखा। बौद्धकाल में इसका खूब प्रचलन था। रोहिणी और कृष्ण (सिंह के खानदानी सेवक के) वार्तालाप में इसका हृदयद्रावक रूप उभारा गया है। बाकायदा इन दासों के लिए आचारसंहिता बनी थी और खुले व्यापार में यह उपभोक्ता-वस्तु बन चुके थे। इतिहास में गुलामवंश इसकी गवाही की पुरजोर गुहार लगा रहा है। सभी गणों में दास का नामोनिशान न रखकर राहुल ने अपनी इतिहास दृष्टि के स्वास्थ्य का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

यही हाल नारी स्वातंत्र्य का भी है। राहुलजी ने 'वोल्गा से गंगा' में निशा-दिवा के आदिम काल में नारीसत्ताक समाज को दिखाया है। मध्यकाल की दशा को देखा है और आज की नारी की दुर्गति देख ही रहे थे। इस बीच जब उन्हें नारी-समाज की समता दिखानी हुई तो प्राचीनकाल के बिना कहीं कोई संभावना नहीं दिखी, जब पूरी तौर पर अधिकार हीन नहीं बन चुकी थीं स्त्रियाँ। इसीसे शायद युद्ध में भाग लेने और गणपरिषद में सदस्य बनने जैसी क्रियाशीलता दिखानेकी स्थिति बना सके राहुल। लेकिन इससे अधिक संकेतक हैं वे प्रसंग, जहाँ देवर-भाभी एवं अन्य युवा-युवतियों के बीच निर्बंद हँसी-मजाक एवं उन्मुक्त काम-काज के संयोजन हुए हैं और वे सोद्देश्य रूपमें पर्याप्त भी हैं। हाँ, यहाँ एक अतिचार-सा प्रसंग भी शामिल कर लिया गया है, जब स्त्रीसैनिकों को पुरुष जैसा दिखने के लिए वक्षस्थल को छिपाने की चर्चा आयी है। वहाँ ठोंक-पीटकर बराबर कर लेने एवं इससे बात न बनने पर चिकित्सा विभाग को दे देने तक का उल्लेख है। बौद्धकाल में क्या ऐसा चिकित्सा शास्त्र था? अवश्य राहुलजी बीसवीं शती के बनकर बोल गये हैं- योंकि वह भी कितना संभव है, विवादास्पद ही है।

तीसरा मुद्दा अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसे विविध आयामों और व्यापक परिधि में उठाया भी गया है। स्त्री-पुरुष संबंधों में बराबरी के बाद प्रेम और विवाह में भी दोनो की आपसी पसंद की अनिवार्यता बहुत साफ है। चाहे जय-श्यामा हो, या वसुनंदा-जय हों अथवा रोहिणी और सिंह, कहीं भी पसंद में किसी एक को रतीभर भी कम-ज्यादा नहीं दिखाया गया। 'वसुनंदा भी राजी हो', की बात जय स्वयं कहता है भाभी से। इस संबंध में पसंदगी के कारण ही ध्रुवभट्टारिका एवं चंद्रगुप्त के परिचय को पारम्परिक अनैतिकता के बावजूद लेखक के भीतरी हाथ का सहारा मिला है, पर उसमें छिपी किंचित राजनीति की खुली भर्त्सना भी है। एक से अधिक पत्नियाँ रखने की खुली परम्परा को भी लेखक ने इतिहास में देखा है। जब एक कबीला दूसरे को हराने में जनशक्ति से हीन होने लगा, तो संतान-वृद्धि के लिए ऐसी छूट दी गयी। ऐसी आवश्यकता पर अपनी पत्नियों से ही ज्यादा संतानें पैदा करने की सलाह गणराज्यों में भी उल्लिखित हुई है, पर कबीलों की वह परवानगी ही परवर्तीकाल में कुत्सित प्रथा का रूप धर आयी।

प्रेम और शरीर संबंधों में राहुल के उपन्यास उन्मुक्त समाज के समर्थक होने के संकेत देते हैं। कपिल का वह देवभूमि वाला उन्मुक्त समाज है, जिसे पशुसमाज लगने का जवाब देते हुए राहुलजी कह उठते हैं कि 'आँखों से देखने पर वह दिव्य-सा मालूम होता है'। वहाँ 'प्रत्येक देवी स्वतंत्र है। वह किसी की भार्या नहीं... उसी तरह देव भी...' (पृष्ठ ४८)। लेकिन इससे ज्यादा स्पष्ट 'जय यौद्धेय' का 'प्रेम-त्याग' वाला अध्याय है, जहाँ बौद्ध भिक्षु बना जय भी प्रवंचिता-शोषिता युवती उपासिका के प्रेमनिवेदन को अनुचित नहीं समझता। उसे ठुकराता है सिर्फ इस कारण कि मुक्तप्रेम का वह युग नहीं था।

इसमें कतई दो रम्य नहीं कि उक्त सारी बातें मार्क्सवाद से संबोधित प्रगतिशील वैचारिकता के अनुषंग हैं। परंतु यह तो राहुलजी के समस्त लेखन का बीज तत्त्व है। दर्शन, इतिहास, यायावरी तक उनका समस्त कृतित्व एवं जीवन के सभी कार्यकलाप इस दृष्टि से परिचालित-निर्देशित हैं। तो फिर उपन्यासों की इतिहासदृष्टि अपवाद कैसे हो सकती है। किंतु गणराज्य भी-इस उद्भावना को उपन्यास और इतिहास के युगपर संयोग से जिस व्यवस्थित और क्रमिक रूप से राहुलजी ने प्रस्तुत किया है, वह गहन इतिहासबोध एवं निश्चित कलादृष्टि के बिना संभव न

हो पाता। इतिहास में ये गणराज्य थे या नहीं, थे तो किस स्थिति में थे, आदि की चर्चा भी आनुषंगिक महत्व की है। ये सब ऐतिहासिकता की परख के आयाम है, इतिहास दृष्टि के लिए जरुरी नहीं। फिर इतने बडे इतिहासतज्ञ के समक्ष आज इस तरह का प्रश्न उठाने की क्षमतावाला शायद बिरला ही कोई हो। एक बार यह भी मान लें कि ये गणराज्य राहुलजी की अपनी उद्भावनाएं हैं, तो भी एक ऐसे महान इतिहासवेत्ता की हैं कि उद्भावना होकर भी इतिहास ही हो जाती हैं। कई साधनों से समर्पित हैं और सबके बावजूद राहुलजी की स्वीकृति कि 'मेरे सभी ऐतिहासिक उपन्यास हैं; इतिहास या जीवनी नहीं'– (विस्मृत यात्री की भूमिका) और 'उपन्यास के शरीर में ऐतिहासिक सामग्रीने अस्थिपंजर का काम किया है, मांस मैंने अपनी कल्पना से भरा है'– (जय यौधेय की भूमिका) इसके बाद भी संपूर्ण इतिहास सम्मतता की मांग नादानी ही होगी। हां, यह तो असंदिग्ध है ही कि इतिहासदृष्टि पूर्णतः इतिहासोद्भूत है।

और इतिहास–जनित इस दृष्टि को इतिहास के अतीत के साथ महापंडित सांकृत्यायन ने भविष्य के गर्भ में भी देखा है– 'बाईसवीं सदी' नामक कृति में। इसे कहीं–कहीं इतिहास ग्रंथ या निबंध भी कहा गया है, पर यह उपन्यास ज्यादा है। वैसे तो 'दिवोदास' भी इतिहास लगता है और 'विस्मृतयात्री' भी जीवनी लगता है। फिर विश्वबंधु के माध्यम से कहा 'बाईसवीं सदी' भी जीवनी हो सकता है। राहुल ने इसे उपन्यास कहा है। सच यह है कि राहुलजी के लिए बात महत्त्वपूर्ण है, विधा नहीं। और यथासंभव अधिकतम योग्य विधा का चुनाव किया है राहुल ने– अपनी अभिव्यक्ति की अफरातफरी एवं व्याकुलता की सीमा में। लेकिन इन सबके बावजूद 'बाईसवीं सदी' के उपन्यास होने में कोई संदेह नहीं। दो सौ साल की लंबी नींद से जगकर बाईसवीं सदी का साक्ष्य प्रस्तुत करना उपन्यास नहीं तो और क्या हो सकता है। वह सब प्रस्तुत करनेवाला विश्वबंधु जो कुछ बताता है, वह उसी इतिहास दृष्टि के गणतंत्र एवं राहुल जी के समकालीन प्रजातंत्र का विश्वस्तरीय रूप है, 'जहां संपूर्ण भूमंडल एक राष्ट्र है। चुनाव होते हैं। कोई दत्त (भारतीय) राष्ट्रपति हैं, सीहारा (जापानी) प्रधानमंत्री है, मोनोलिन (रूसी महिला) शिक्षामंत्री, हैं। इसी तरह और भी सबकुछ है। हां सेना का मंत्रालय नहीं है। दुनिया से सैन्य व्यवस्था ही उठ गयी है। यह एक 'सार्वभौम' व्यवस्था है। इसकी भाषा 'सार्वभौम' है। इस 'सार्वभौम राष्ट्र को बने सौ साल बीत चुके हैं। सार्वभौम संवत् १०१ चल रहा है। इस व्यवस्था में व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा समाप्त हो चुकी है। सबकुछ राष्ट्र की संपदा है। कदली ग्राम, आमग्राम, सेबग्राम जैसे सब गाँव बसे हैं। सारे भ्रष्टाचार खत्म हैं। कोई बीमार नहीं। कहीं ताले नहीं। तीन साल से बीस साल तक उम्रवालों लिए अनिवार्य शिक्षा है। वृद्धों–शिशुओं के लिए सुंदर व्यवस्था है।' इस तरह राहुलजी की 'बाईसवीं सदी' मार्क्ससंपोषित 'स्टेट्स विल विदर अवे' के साथ 'रामराज्य' का प्रतिरुप है। यही राहुल का मानस संसार है– वैकल्पिक समाज! इस 'बाईसवीं सदी' का प्रकाशनकाल भी १९५२ है। तब सोवियत की साम्यवादी व्यवस्था अपने उत्कर्ष पर थी और हमारा लोकतंत्र पालने में। आज का वर्तमान 'बाईसवीं सदी' को 'यूटोपिया' में ढकेल चुका है, किन्तु इतिहास पर टिके होने के कारण गण–व्यवस्था वाली इतिहास दृष्टि अब भी कारगर प्रेरणा और आस्था लिये खडी है। इस अतीत को राहुलजी भविष्य–निर्माण से साधना चाहते थे, जिसे इस पचीस–तीस सालों के विकास ने निरस्त कर दिया है।

लेकिन इससे उनकी इतिहास–दृष्टि पर वैसे ही फर्क नहीं पडता, जैसे सोवियत संघ की साम्यवादी व्यवस्था के फेल हो जाने से मार्क्स के दर्शन पर कोई फर्क नहीं पडता। ये तो दृष्टियाँ हैं– विजन हैं। इसके मुताबिक दृश्य हमें बनाने हैं। राहुलजी उपन्यासों में जो इतिहासदृष्टि दे गये हैं, उसका इतिहास हमें रचना है। यह आज के, और आनेवाले समाज के लिए चुनौती है, जिसे स्वीकारने के लिए 'बाईसवीं सदी' के भविष्य का 'मॉडल' हमें ललचाता है, ललकारता है और प्राचीन काल के गणराज्यों की इतिहासदृष्टि हमें संबल देकर उकसाती है।

क्या यह चुनौती को स्वीकारने योग्य हम अपने को बना सकेंगे?

–※–